बचपन में मेरा एक बहुत ही अच्छा दोस्त हुआ करता था। समीर नाम का। पता नहीं कहाँ है वो आजकल! पर हाल ही में जब मैंने एक फिल्म देखी तो उससे जुड़ी कुछ यादें मेरे ज़हन में ताज़ा हो गईं। उन यादों के बारे में बताने से पहले इस फिल्म के बारे में बताता हूँ।

जन्नत के बच्चे

विवेक मेहता

इस फिल्म का नाम है Children of heaven यानी – जन्नत के बच्चे। यह एक इरानी फिल्म है। इस फिल्म के मुख्य किरदार हैं – अली और ज़ाहरा नाम के दो बच्चे। फिल्म शुरू होती है बाज़ार के एक दृश्य से। यहाँ अली एक मोची की दुकान पर खड़ा अपनी बहन ज़ाहरा के पुराने जूते मरम्मत करवा रहा है। आगे होता यूँ है कि घर आते समय गलती से वे जूते अली से कहीं खो जाते हैं। वो परेशान होता है, बहुत ढूँढता है, पर जूते नहीं मिलते। आखिरकार, वह बड़े ही बुझे मन से अपने घर पहुँचता है जहाँ ज़ाहरा उसका इन्तज़ार कर रही है। जूते गुम हो जाने की बात सुनकर वह उदास हो जाती है। पर यह सोचकर कि घर में तो नए जूतों के लिए पैसे तो हैं नहीं और

जूते गुमने की बात जानकर अली को सज़ा मिल सकती है, वह अपने अम्मी-अब्बू को कुछ नहीं बताती।

खैर, दोनों आपस में सलाह कर एक तरकीब निकालते हैं कि वे दोनों अली के जूतों को मिल-बाँटकर इस्तेमाल करेंगे। अली के जूते ज़ाहरा के लिए थोड़े बड़ेतो हैं पर इससे क्या! तय होता है कि पहले ज़ाहरा सुबह के समय जूते पहनकर स्कूल जाएगी और फिर दोपहर के समय अली उन्हें पहनकर स्कूल जाएगा।

लेकिन दोनों की बनाई यह तरकीब हर रोज़ ही उनके लिए एक नई परेशानी खड़ी कर देती है। अपने अम्मी-अब्बू और टीचरों से इस बात को छुपाने की जद्दोज़हद में अली और ज़ाहरा की यह कहानी कई सुन्दर रास्तों से गुज़रती है।

फिल्म की कहानी सुनने में तो बड़ी साधारण लगती है, पर जिस असाधारण तरीके से इस कहानी को निर्देशक माजिद मजीदी ने परदे पर उतारा है वो काबिले तारीफ है। वे एक जादूगर की तरह दर्शकों को फिल्म के जादू से बाँधकर रखते हैं और उनके साथ यह समझ बाँटते हैं कि ज़रूरी नहीं कि सब कुछ होने पर ही इंसान खुश हो। बल्कि एक छोटे-से, आम भाषा में गरीब कहे जाने वाले परिवार, में भी रिश्ते सुन्दर और गहरे हो सकते हैं। और ये सुन्दर इंसानी रिश्ते ही एक परिवार के सुखी और खुश होने का असली कारण हैं।

चलिए, फिल्म के बारे में तो मैंने अपनी बात रख ली, अब समीर से जुड़ी यादें भी तुम से बाँट लूँ। यह बात है पहली या दूसरी कक्षा की। तब मैं और समीर एक ही स्कूल में पढ़ा करते थे। अकसर ऐसा होता था कि कक्षा में कभी किसी का पेन खराब हो जाता था तो कोई अपना पेन भूल आता था। मेरे साथ भी कभी-कभी ऐसा ही होता था। अब जब सामने खड़ी टीचर हाथ में डंडा लिए इमला लिखवाए तो किसी को भी डर लगेगा। पर मार खाने से बचने के लिए हम दोनों ने मिलकर एक तरकीब निकाली थी। हम लोग जैसे-तैसे मिल-बाँटकर एक ही पेन से काम चला लेते थे। एक लाइन वो अपनी कॉपी में लिखता तो दूसरी मैं। इसमें थोड़ी दिक्कत तो होती थी, पर मज़ा भी आता था। और भी कई चीज़ें थीं जो हम मिल-बाँटकर इस्तेमाल करते थे। एक अजीब-सी ही खुशी मिलती थी ऐसा करने में। यह फिल्म देखकर भी मुझे वैसी ही खुशी का एहसास हुआ।

शायद समीर भी इस लेख को कहीं पढ़ रहा हो आज। शुक्ला जी, शायद सही ही कहते हैं 'बाँटो और मौज करो'।

शुक्ला जी आईआईटी कानपुर से रिटायर्ड प्रोफेसर हैं।